

भक्ति-आंदोलन : पुनर्मूल्यांकन

खगेंद्र ठाकुर

आंदोलन हो या काव्य-प्रवृत्ति सब के उद्भव के कुछ प्रेरणा-स्रोत होते हैं, ऐतिहासिक सामाजिक पृष्ठभूमि होती है। अंग्रेज विद्वान जार्ज ग्रियर्सन ने तो उत्तर भारत के भक्ति आंदोलन के बारे में कहा कि बौद्ध-आंदोलन के बाद मध्यकाल में अचानक बिजली की चमक की तरह भक्ति-आंदोलन का उदय हो गया, जिसके बारे में कोई नहीं जानता कि उसका कारण क्या था। ग्रियर्सन की विद्वत्ता भी कारण नहीं बता सकी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देने की कोशिश की - 'देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया। उसके सामने ही देव मंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ...अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की भक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?' एक तो आचार्य शुक्ल के द्वारा बताई गई मनोदशा ऐतिहासिक नहीं है, दूसरे, तर्कसंगत भी नहीं है। यदि मंदिर तोड़े जा रहे थे और देव-मूर्तियाँ तोड़ी जा रही थीं, तो मंदिर में रहने वाले ईश्वर और मूर्तियों में प्रतिष्ठित देवगण क्यों नहीं कुछ कर रहे थे, आक्रमणकारियों को ध्वस्त क्यों नहीं कर रहे थे। यदि वे अपनी ही रक्षा नहीं कर पा रहे थे, तो जनता का ध्यान उनकी ओर कैसे गया? आचार्य शुक्ल और प्रेमचंद समकालीन थे। 'प्रेमाश्रम' में सरकारी अधिकारी और जमींदार के कारिंदा लगान वसूलने गाँव गए हैं और उन्होंने वहाँ अड़्डा जमा दिया। उनके खाने-पीने आदि का सारा प्रबंध गाँव वालों को करना था। खेलने के लिए टेनिस-कोर्ट बनवाया, खेत को छील-छाल कर चौरस कराया किसानों से। किसानों ने इसे अपना अपमान समझा। इसकी दो प्रतिक्रियाएँ देखने को मिलती हैं। सुखू चौधरी घर गया और जिस शालिग्राम शिला को ईश्वर मानकर वह रोज पूजता था, उसे कुएँ में फेंक दिया; क्योंकि वह जब उपासक की इज्जत नहीं बचा सका तो किस काम का? उसके बाद सुखू चौधरी घर छोड़कर कहीं चला गया। दूसरी प्रतिक्रिया मनोहर और उसके बेटे बलराज की है। उन्होंने जमींदार के कारिंदा कादिर खाँ की हत्या कर दी। आचार्य शुक्ल जो प्रतिक्रिया बताती है, वह इतिहास से प्रमाणित नहीं है। और वह स्वाभाविक भी नहीं है। आचार्य शुक्ल ने भक्ति-काल का आरंभ विक्रम संवत् 1375 यानी सन 1318 माना है। यों इतिहास में कोई प्रवृत्ति किसी साल पैदा होती है, यह मानना सही नहीं है, फिर भी युग का प्रारंभ तो कहीं से मानना पड़ेगा। यह प्रायः लोदी-वंश का शासन-काल था। इस प्रसंग में प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता सतीशचंद्र ने 'मध्यकालीन भारत' नाम की अपनी चर्चित पुस्तक में लिखा है - 'उत्तर भारत में जब तुर्कों ने अपना साम्राज्य स्थापित किया, तब इस्लाम भारत के लिए नया नहीं था। पंजाब और सिंध में इस्लाम की स्थापना नवीं-दसवीं शताब्दी में ही हो गई थी। अरब यात्री भी उससे पहले केरल में बस गए थे। उस काल में अरब यात्री और सूफी सारे देश में भ्रमण करते थे। इस्लाम पर बौद्ध दर्शन और वेदांत का प्रभाव विद्वानों के लिए वाद-विवाद का विषय रहा है। ...इन विचारों ने सूफी मत के विकास की पृष्ठभूमि

तैयार की। बारहवीं शताब्दी के बाद भारत में पाँव जमाने के पश्चात् सूफी मत ने हिंदू और मुसलमानों के लिए सामान्य मंच उपलब्ध किया। (पृ.-117) इस्लाम में रहस्यवाद के उदय से सूफी मत का उदय माना जाता है। यह ठीक है कि सूफी मत में मूल धारणा - इस्लाम की ही रही, लेकिन वह उससे कुछ भिन्न भी हो गया। एक किंवदंती प्रसिद्ध है। हजरत मुहम्मद जब बहिश्त में प्रवेश के लिए दरवाजे पर खड़े थे और उनके पीछे उनके शिष्यों की कतार थी, तभी उन्होंने देखा कि कुछ लोग उनकी कतार से हटकर खड़े थे। पैगंबर ने अपने एक शिष्य से पूछा - 'वे कौन लोग हैं। तो शिष्य ने बताया - 'वे सूफी हैं।' फिर पैगंबर ने पूछा - 'वे वहाँ क्या कर रहे हैं?' तो उन्हें बताया गया कि वे भी बहिश्त में जाने के लिए खड़े हैं।' इस पर पैगंबर ने कहा - 'मेरे बिना।' यानी वे खुदा के पास परमात्मा के पास सीधे जाने की साधना करते थे। आत्मा-परमात्मा का संबंध सीधे था, बीच में किसी भी जरूरत नहीं थी। ऐसे सूफी संत 1192 में पृथ्वीराज चौहान की हार के बाद भारत आए थे और बाद में अजमेर जाकर बस गए थे, जिनमें ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती का बड़ा नाम रहा है। आज भी अजमेर शरीफ मशहूर है। सतीश चंद्र लिखते हैं - 'तुर्कों के भारत आगमन से काफी पहले से ही यहाँ एक भक्ति आंदोलन चल रहा था, जिसने व्यक्ति और ईश्वर के बीच रहस्यवादी संबंध को बल देने का प्रयत्न किया था।' (मध्यकालीन भारत, पृ.-120)। यह दक्षिण भारत में उत्पन्न और प्रसारित भक्ति आंदोलन था। बौद्ध आंदोलन के समानांतर बहुत हद तक उसे प्रसार का विरोध करते हुए यह भक्ति-आंदोलन फैला। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन का उद्भव और प्रसार प्रायः चार-पाँच सौ वर्ष बाद में हुआ इसका ऐतिहासिक और सामाजिक कारण यह है कि उत्तर में बौद्ध-प्रभाव के कारण दलितों पर अत्याचार दक्षिण की तुलना में कम था। बौद्ध-आंदोलन भी भक्ति का मार्ग बना नहीं सका, बल्कि बुद्ध की भी अवलोकितेश्वर के रूप में पूजा शुरू कर दी, तो लोगों ने शिव और विष्णु के प्रति समर्पण को भी मोक्ष और भक्ति के मार्ग के रूप में देखा। दक्षिण के भक्ति-आंदोलन का उत्तर में प्रसार उनकी भाषागत सीमा के कारण भी हुआ। नायनार और आलवार भक्तों ने अपनी भाषा में लिखा, यह तो स्वाभाविक था, लेकिन उनकी चेतना उत्तर तक आने में देर हुई। अक्सर कहा गया है कि भक्ति की चेतना को दक्षिण से उत्तर लाने वाले रामानंद थे। गौर करें महाराष्ट्र के संत कवि नामदेव चौदहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हुए माने जाते हैं। नामदेव पेशे से दर्जी थे। संत बनने से पहले वे डाकाजनी करते थे, लेकिन उनके जीवन में परिवर्तन आया तो भक्ति का उपदेश देने लगे। उन्होंने दूर-दूर तक यात्रा की। वे दिल्ली भी आए थे और सूफी संतों से मिलकर विचार-विमर्श भी किया था।

रामानंद का समय सतीशचंद्र के अनुसार चौदहवीं का उत्तरार्द्ध और पंद्रहवीं सदी का पूर्वार्द्ध था। अतः स्पष्ट है कि रामानंद से पहले ही नामदेव की भूमिका है और उनसे पहले सूफी संतों की। रामानंद के विचार इस भक्ति-आंदोलन को बल पहुँचाते हैं। वे जन्म-आधारित भेद-भाव और अस्पृश्यता के खिलाफ थे। सभी वर्णों और जातियों के एक साथ उठने-बैठने, खाने-पीने के पक्ष में थे वे। भक्ति का मार्ग सबके लिए खोल देने का पक्ष मजबूत हुआ। लेकिन रामानंद ने शैव-वैष्णव मत के स्थान पर राम-भक्ति का प्रसार करने की कोशिश की। लेकिन भक्ति-काव्य पर गौर करें, उसमें व्यक्त चेतना तथा संतों और भक्तों के जीवन पर गौर करें तो हम देखते हैं कि भक्ति आंदोलन की प्रथम सीढ़ी पर

निर्गुण भक्त हैं, दूसरी सीढ़ी पर अष्टछाप के कवि हैं, जो कृष्ण भक्त थे और तब आते हैं राम भक्त, जिनकी परंपरा भक्ति-काव्य में बहुत प्रचलित तो है, लेकिन कृष्ण-काव्य की तरह समृद्ध नहीं है। यह ठीक है कि कृष्ण-चेतना और राम-चेतना में बहुत फर्क नहीं है। चेतना में फर्क नहीं होते हुए भी उद्देश्य और स्वरूप में तो बहुत फर्क है। तुलसीदास के जीवन का एक प्रसंग है। एक मित्र उन्हें वृंदावन ले गया राधा कृष्ण के मंदिर में। राधा-कृष्ण की मूर्ति के सामने तुलसी खड़े थे, प्रणाम नहीं किया। मित्र ने प्रणाम करने को कहा तो तुलसी ने यह दोहा लिखा - कहा कहीं छवि आपकी, भले बने हो नाथ, तुलसी मस्तक तब नबै, धनुष बान लेहू हाथ। क्या बात है? बाँसुरी बजाने वाला नहीं, तीर छोड़ने वाला चाहिए, अन्याय के खिलाफ लड़ने के लिए।

भक्ति-आंदोलन के उदय के बारे में एक बात और ध्यान देने लायक है। अनेक विद्वानों ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि इस्लाम में समानता का भाव था, जिससे हिंदू-समाज में अपमानित और दलित लोग भक्ति की ओर आकृष्ट हुए। सतीशचंद्र भी कुछ हद तक यह बात मानते हैं, लेकिन इरफान हबीब कहते हैं कि मुस्लिम समाज में सामाजिक समानता की बात कतई नहीं थी भले इबादत की समानता थी। इसलिए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कहना सही है कि इस्लाम नहीं आता, तब भी भक्ति-आंदोलन का अस्सी प्रतिशत ऐसा ही होता, जैसा है। बीस प्रतिशत प्रभाव क्या है? इसे द्विवेदीजी ने स्पष्ट नहीं किया है। मुझे लगता है कि सतीशचंद्र का यह कथन युक्तिसंगत है। 'राजपूत राजाओं की पराजय और तुर्कों की सल्तनत स्थापित हो जाने के बाद ब्राह्मणों का आदर और उनकी भक्ति कम हो गई थी।' (पृ.-120)

लेकिन इस बात की भी अभिव्यक्ति पहले नाथपंथी आंदोलन में हुई। नवीं सदी में हुए आचार्य रूद्रट ने लिखा है कि कभी-कभी कविगण आकर कहते थे राजाओं में संघर्ष होता रहता है और राजा बदल भी जाते हैं, राजनीतिक अस्थिरता के कारण राजाओं को नायक बनाने में दिक्कत होती है, तो रूद्रट ने कहा - देवताओं पर काव्य लिखो। इस प्रकार भक्ति की ओर कवियों के मुड़ने का एक कारण यह भी हो सकता है।

भक्ति आंदोलन का नारा था -

जात-पांत पूछे नहिं कोई
हरि को भजै सो हरि का होई॥

जाहिर है कि हिंदू समाज की जाति प्रथा के खिलाफ विद्रोह का स्वर था भक्ति-आंदोलन। इस नारे और विद्रोह ने मुख्यतः ब्राह्मण वर्चस्व को चुनौती दी।

निर्गुण -सगुण

भक्ति आंदोलन के संतों और भक्तों का निर्गुण-सगुण में बँटवारा जितना विचारधारा पर आधारित है, उससे कई गुना ज्यादा सामाजिक आधार पर था। याद करें नामदेव दर्जी, नानक बनिया, कबीर जुलाहा, रैदास चमार, दादू दयाल धुनिया, सेना नाई, साधना कसाई

थे। इनमें नानक को छोड़कर सभी समाज में प्रायः निचले पायदान पर थे, उन्हें मंदिर में प्रवेश करके ईश्वर से अपना दुखड़ा सुनाने का, प्रार्थना करने का भी अधिकार नहीं था। यह तो हाल-हाल तक रहा है। अब भी ऐसी पाबंदी पूरी तरह खतम नहीं हुई है। सभी जानते हैं कि 1933 में महात्मा गांधी जब अपने 'हरिजनों' को लेकर वैद्यनाथ मंदिर (देवघर) में प्रवेश कर रहे थे, तो उन्हें पंडों का प्रहार झेलना पड़ा। इसी घटना या दुर्घटना के बाद दिनकर ने 'बोधिसत्व से' शीर्षक कविता लिखी थी। इस कविता की पहली पंक्ति इस प्रकार है -

'दौड़ो-दौड़ो हे बोधिसत्व भारत में मानवता, अस्पृश्य हुई।'

दिनकर ईश्वर को नहीं पुकार रहे, व्यग्रता से बुद्ध के एक रूप बोधिसत्व को पुकार रहे हैं। मानवता का अभाव हो गया है। मंदिरों में बहरे पाषाण स्थापित हैं, और कविता के अंत में कहते हैं -

'कैसे बचें दीन हाय, प्रभु भी धनियों के गृह में बंद हुए।'

मध्यकाल में तो यह पाबंदी और भी कठिन थी। इसीलिए सभी तरह-तरह के कारीगर, जो आत्मसम्मान का भाव तो मन में अर्जित कर चुके थे, लेकिन समाज ने उनको सम्मान नहीं दिया, तो उन्होंने यह विचारधारा विकसित की कि ईश्वर तो निर्गुण या उससे भी परे है। 'गुण' तो प्रकृति में होते हैं, ईश्वर प्रकृति से भी ऊपर है, इसलिए वह मंदिरों में या मूर्तियों में कैसे हो सकता है। वह कहाँ नहीं है। कबीर ने कहा -

'जाके मुख माथा नहीं, नाही रूप-कुरूप
पुहूप वासतें पातरा, ऐसा तत्त अनूप॥'

उसका कोई आकार नहीं है, रूप-कुरूप कुछ नहीं। वह ऐसा अनुपम तत्व है, जो फूल 'पुहूप' की खुशबू से भी सूक्ष्म है। फूल की खुशबू को मनुष्य नाक से तो ग्रहण कर सकता है, अन्य पदार्थों को हाथ, मुँह (जीभ) आँख-कान आदि ज्ञानेंद्रियों से प्राप्त करते हैं। गंध को नाक से ग्रहण करते हैं। ईश्वर को नाक से भी नहीं पा सकते। इस प्रकार ईश्वर इंद्रियातीत है, जो इंद्रियातीत है, वह अनुभवातीत है और जो अनुभवातीत है, वह वर्णनातीत है। इस हालत में निर्गुण संत शून्य गगन में यानी अपने मन में उसके बारे में ध्यान करते रहे। वह तो सर्वत्र है, सर्वव्यापी है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है। संतों के मुताबिक वह मनुष्य के शरीर में आत्मा रूप में है। आत्मा-परमात्मा के एक होने का ज्ञान हो जाना ही असली ज्ञान है, ऐसा कबीर और अन्य निर्गुणियों की मान्यता है। तो हमारे समाज में अस्पृश्यता और निर्धनता का होना, साथ ही श्रमिक चेतना का होना भक्ति आंदोलन में निर्गुण मार्ग के उद्भव और विकास का स्रोत है।

जाहिर है सगुण भक्त वे लोग थे, जो एक तो कारीगर नहीं थे, दूसरे जाति-व्यवस्था में ऊपरी सीढ़ी पर थे, मंदिरों में जाकर भजन-भाजन तो करते ही रहते थे। वे यह भी मानते थे कि ईश्वर या परमात्मा साकार रूप में आते हैं। आते हैं या नहीं यह तो विवाद

का विषय है, लेकिन सगुण भक्तों की यह कोशिश रही है कि वे आम लोगों को यह दिखा सकें कि कभी ईश्वर विभिन्न रूप धारण करके संकट के दिनों में लोगों की मदद करने आते थे और आदमी की तरह आदमी की मदद करते दिखते थे।

मीराबाई, सूरदास, तुलसीदास आदि सगुण भक्त कवियों में अग्रणी हैं। मीरा ने कृष्ण को अपने पति के रूप में अपना लेने की भावना अपने गीतों में व्यक्त की है। भक्ति का आवेश उनमें तर्क से परे है, अनुभव से भी परे है। लेकिन भक्ति आंदोलन से उनका संपर्क दूसरों की तरह नहीं है। वे राणा संग्राम सिंह की पुत्रवधू थीं और कुंभाजी की पत्नी थीं। वे भक्ति-काव्य में अकेले उनके गीत हैं जो कवयित्री के निजी जीवन की व्यथा व्यक्त करते हैं।

सूरदास ने कृष्ण के बाल-जीवन का वर्णन करते हुए कृषि-कर्म के पशुपालन से संबंधित अनुभवों को व्यक्त किया है। कृष्ण गाय चराते हैं, चरवाहों के साथ रहते, उठते-बैठते हैं। इसके साथ यशोदा का वात्सल्य इस तरह मर्मस्पर्शी ढंग से व्यक्त हुआ है कि सूर-काव्य के अध्येताओं को सूर की कला पर अचरज होता है। अचरज होता है इसलिए कि बाल-वर्णन एकदम अभिधा-शैली में स्वभावोक्ति के रूप में किया गया है। अभिधा और स्वाभावोक्ति में कवित्व व्यंजित करना कठिन कवि-कर्म है। खैर, यहाँ मुख्य बात यह है कि सगुण-भक्ति भक्तों को गाँवों की ओर किसानों और पशुपालकों की ओर ले जाती है। इस प्रसंग में तुलसीदास और आगे बढ़े हैं। सूर और तुलसी भी मानते रहे हैं कि ईश्वर, अनिर्वचनीय है। सूर उसे गूँगे का गुड़ कहते हैं और तुलसी कहते हैं - 'प्रकृति पार प्रभु सब उरवासी।' यह कथन तो कबीर के करीब है।

सामाजिक दृष्टि

सगुण-निर्गुण के प्रसंग में यह भी ध्यान में लाने की जरूरत है कि समाज में जो सगुण-समर्थक थे, वे अस्पृश्यता और भेद-भाव के भी समर्थक थे। और जो निर्गुण पंथ को मानते थे वे स्वयं पीड़ा झेल रहे थे। इसलिए निर्गुण संतों ने समाज में समानता कायम करने की आवाज उठाई। जन्म के आधार पर किसी को छोटा-बड़ा समझना गलत है, क्योंकि जन्म की प्रक्रिया में भेद कहाँ है? भेद तो जन्म के बाद पैदा किया जाता है। नानक ने कहा -

'एक नूर ते सब जग उपज्या
कौन भले कौन है मंदे।'

एक ईश्वरीय नूर (प्रकाश) से यह पूरा संसार पैदा हुआ है, सभी उसी में के बंदे हैं, इसलिए यह भेद करना गलत है कि कौन भला है और कौन बुरा है।

कबीर ने कहा - जो बामन बामनि जाया और राह काहे न आया - जो तुरकहिं तुर्कनि जाया पेटहिं खतना क्यों न कराया?

यदि ब्राह्मण श्रेष्ठ गर्भ (ब्राह्मणी) से पैदा हुआ है, तो उसी राह से क्यों पैदा हुआ, जिस राह से सभी पैदा हुए। उसी तरह तुर्क यदि तुर्कानी के गर्भ से पैदा हुआ है तो पेट में

ही खतना क्यों कराया? कहने का अर्थ यह कि जो भेद लोगों में, समाज में दिखाई पड़ते हैं, वे मनुष्य-कृत हैं, जन्म के बाद मनुष्य को भेद-भाव से जोड़ा जाता है। रैदास ने इसी बात को यों कहा है -

'चमरठा गाँठ न जनई, लोग गठावें पनही।'

मैं चमरौंथा जूता बाँधकर या लेकर नहीं पैदा हुआ, लोगों ने मुझसे जूते बनवाए और फिर मुझे चमार कहकर छोटा बनाया। जूता बनाने का कर्म उसे समाज ने सौंपा और वह समाज की जरूरत पूरी कर रहा है। और एक जगह रैदास कहते हैं -

'जे पहुँचे ते कह गए, जिनकी एकै बाति
सबै सयाने एक मत तिनकी एकै जाति॥'

सभी बुद्धिमानों की बात एक है, एक ही जाति है। इसमें यह अर्थ भी निहित है कि जो अलग-अलग जातियों के आधार पर मनुष्य को देखते हैं, वे सयाने नहीं हैं। जाति तो पूरे समाज की एक है। 'गीता' में एक जगह कहा गया -

'जन्मना जायते शूद्रः
संस्कारात् द्विजुच्यते॥'

जन्म से सभी शूद्र होते हैं, संस्कार से द्विज कहे जाते हैं। यहाँ दो बातें एकदम साफ हैं - जन्म के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं किया जाना चाहिए। और दूसरी बात यह कि संस्कार इसी जीवन में अर्जित किए जाते हैं। जब सत्ताधारी और संपत्तिधारी वर्गों ने श्रम करने वालों को संस्कार अर्जित करने के अधिकार से वंचित कर दिया, तो शूद्र और द्विज का भेद पैदा हुआ। द्विजों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य रहे। ध्यान देने की बात है कि सवर्ण के दायरे में शूद्र भी आते हैं, क्योंकि चार वर्ण हैं, शूद्रों को वर्ण प्राप्त था, अवर्ण के अछूत या अस्पृश्य। शूद्रों को संपत्ति अर्जित करने और रखने के अधिकार से भी वंचित कर दिया गया। यद्यपि ऐसा पूरी तरह कभी लागू नहीं हुआ, फिर भी भेद-भाव तो रहा ही। श्रम को जन्म से जोड़ देने से सामाजिक गति में अवरोध पैदा हो गया। पेशा या व्यवसाय चलने की स्वतंत्रता उनको नहीं मिल सकी, जो प्रतिष्ठापूर्ण पेशा चुनना चाहते थे। जाति-प्रथा में खान-पान, शादी ब्याह आदि के मामले में शुद्धता की दृष्टि से रीति-रिवाज विकसित किए गए, जिससे समाज से मनुष्यता का लोप हो गया। इसी पृष्ठभूमि में भक्ति-आंदोलन का विकास हुआ और भक्ति काव्य रचा गया। यह रचने का अधिकार उन्होंने किसी से माँगा नहीं, अपनी भाषा में उन्होंने अपने भाव-विचार व्यक्त किए, तो एक नए जन-जागरण का उदय हुआ।

भक्ति -आंदोलन की सीमा

भक्ति-आंदोलन ने शोषित-पीड़ित, उपेक्षित और अपमानित जनता को जगाया और सामाजिक समानता की आवाज मुखरित की। जन्मजात समानता है, तो जीवन में भी समानता हो। इस महान उद्देश्य को साधने के लिए जनता को जगाना भी भारतीय

इतिहास में महात्मा बुद्ध के बाद ही हुआ। उल्लेखनीय है कि इन संत और भक्त कवियों ने जनता में प्रतिष्ठा भी हासिल कर ली थी। वे अपना श्रम करते हुए यानी जुलाहा और दर्जी या धुनिया बने रहकर भी जनता में संत के रूप में प्रतिष्ठित थे। रैदास को मीराबाई ने अपना गुरु बना लिया था। कबीरदास अपने विचारों को लेकर इब्राहिम लोदी से भिड़ गए थे और कबीर के समर्थकों की तादाद देखकर दिल्ली सल्तनत के बादशाह भी उनका कुछ बिगाड़ नहीं सके। तुलसीदास को बादशाह अकबर ने प्रवचन देने के लिए अपने दरबार में बुलाया था, वे नहीं गए, एक दोहा लिखकर भेज दिया -

'हम चाकर रघुवीर के पदों लिखौ दरबार
तुलसी अब का होइहैं नर के मनसबदार॥'

बादशाह को उन्होंने नर कहा और उसकी हैसियत नारायण (राम) के सामने क्या है? तुलसीदास कबीर से प्रभावित थे, तभी तो उनकी राम-कथा में शंबूक-बध नहीं है। यह निर्गुण पंथ का प्रभाव है। इससे तुलसी की ही मर्यादा बढ़ी। इस प्रभाव ने राम के व्यक्तित्व को गढ़ने में भी तुलसी की मदद की।

भक्ति-काव्य की भाषा भी ध्यान देने लायक है। जन-जागरण के लिए जन-भाषा या लोक भाषा की जरूरत थी। भक्त कवियों ने लोक-भाषा को काव्य-भाषा बना दिया। इससे जन-चेतना के विकास की प्रक्रिया भी आगे बढ़ी। अंधविश्वासों और रूढ़ियों पर धार्मिक आडंबर पर जमकर चोट की गई। इन सबके बावजूद यह विचारणीय है कि भक्ति आंदोलन अपने उद्देश्य में सफल क्यों नहीं हुआ। इतना ही नहीं कि वह सफल नहीं हुआ, बल्कि यह भी हुआ कि अनेक प्रहार और जागरण से सामंतवाद कमजोर होता, वह नहीं हुआ। सामंतवादी शक्तियों ने अपने को आगे चलकर सुदृढ़ कर लिया। इस हद तक कि कविता की धारा ही बदल गई। भक्ति आंदोलन के कवि राज्याश्रम में नहीं थे, बल्कि उसके खिलाफ थे। तुलसी ने तो कहा ही कि हम नर के मनसबदार नहीं बन सकते, कंचनदास ने भी कहा - 'संतन को कहाँ सीकरी सो काम' और कबीर ने कहा -

'प्रेम न बाड़ी उपजै, प्रेम न हाट बिकाय
राजा-परजा जेहि रुचै सीस देई लै जाय॥'

रैदास ने कहा -

'पराधीनता पाप है जानि लेहू रे मीत।
रविदास पराधीन सो कौन करे है पीत॥'

भक्ति-आंदोलन के बाद कवि और कविता दोनों राज्याश्रित हो गए। इन सबके पीछे एक बड़ी बात यह थी कि भक्त कवि अपने आंदोलन के उद्देश्य के अनुकूल विचारधारा नहीं पा सके। यह आश्चर्यजनक है कि उन्होंने लोकायत या बौद्धमत को नहीं अपनाया, इससे भिन्न भक्त-कवियों ने 'मिथ्यावाद' की विचारधारा अपना ली और जनता को एक अदृश्य सत्ता के सामने ले जाकर छोड़ दिया। यहाँ आकर महान जनता समर्पित हो गई,

असहाय हो गई। संत-भक्त कवि निरपवाद रूप से वेदांत और शंकराचार्य के "ब्रह्म सत्यमं जगन्मिथ्या" "केवल ब्रह्म सत्य है और यह जगत मिथ्या है" के फेर से पड़े रह गए। मध्यकाल में सबसे क्रांतिकारी समझे जाने वाले कबीर भी कहते हैं -

'रहना नहीं देस विराना है
यह संसार कागद की पुड़िया बंद पड़े गति जाना है?
यह संसार झाड़ और झांझड़ आग लगे जरि जाना है।'

जहाँ जरूरत थी संसार और समाज को बदलने की, क्योंकि उसके बिना समानता नहीं हासिल की जा सकती, शोषण-मुक्त नहीं हुआ जा सकता। लेकिन दुनिया को बदलने की उद्देश्य रहा नहीं, इसलिए उसके लिए संघर्ष नहीं हुआ। शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धांत की व्याख्या मध्यकाल में रामानुज, भक्तवल्लभ आदि ने की, जिनसे भक्त कविगण प्रभावित रहे।

भक्ति-काव्य में मानवीय संवेदना और विचारधारा या दृष्टिकोण के बीच टकराव स्पष्ट रूप से व्यक्त है। जब कबीर या रैदास या तुलसीदास ही जब समाज के बारे में, पीड़ित लोगों के बारे में सोचते हैं तो विचारधारा या दृष्टिकोण का उल्लंघन करते दीखते हैं, लेकिन अंततः विचारधारा संवेदना को दबा देती है। बात यह है कि भक्ति काव्य के रचयिताओं की चेतना मूलतः भक्ति भावना से बनी है, यही कारण है कि उनकी चेतना संवेदना के अनुकूल नहीं ढल पाती। उद्देश्य और दृष्टिकोण में दिशागत एकता होती है, तभी सफलता मिलती है। आप देख सकते हैं कि बीसवीं सदी के अंतिम दशक में 'सामाजिक न्याय' की जो भावना उभरी, वह पूँजीवादी विचारधारा के नीचे दबकर रह गई और भ्रष्ट नेतृत्व ने सामाजिक न्याय को सामाजिक अन्याय का रूप दे दिया।

मध्यकाल में तुलसीदास ने अपनी मानवीय संवेदनशीलता को राम की संघर्ष-शीलता से बल पहुँचाया, लेकिन राम-काव्य आखिर कथा ही तो है। वह कथा लोगों को प्रेरणा देती है, लेकिन राम भी लीला-पुरुष बनकर रह गए। तुलसीदास ने अपने समय के लिए आवश्यक अनेक आदर्श तय किए और उन्हें राम, सीता, लक्ष्मण, भरत, केवट, शबरी, हनुमान, सुग्रीव, विभीषण आदि के व्यक्तित्वों और चरित्रों में मूर्त कर अपने काव्य में प्रस्तुत कर दिए। वे आदर्श भी काव्यात्मक ही बने रह गए।

आज के युग में हम पीछे उलटकर साहित्य को देखते हैं तो यह मानते हुए कि रचना को उसकी पृष्ठभूमि में रखकर देखना चाहिए, हम अपने समय के तकाजे की उपेक्षा नहीं कर सकते। जब भारत में भक्ति-आंदोलन चल रहा था और किसी अदृश्य सत्ता की प्रणति में काव्य रचा जा रहा था, तब यूरोप में कॉपरनिकस (सोलहवीं सदी) बता रहे थे कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी उसके चारों ओर घूमती है। इस सत्य की अभिव्यक्ति ने दुनिया और मनुष्य के बारे में सोचने-समझने का नजरिया भी बदलने की कोशिश की। रूढ़िवादी समाज और शासन ने कॉपरनिकस को मृत्यु दंड दे दिया लेकिन वैज्ञानिक बात धीरे-धीरे फैलती रही। आगे चलकर गैलिलियो ने भी वही बात कही, तो उसे आजीवन कारावास दिया गया। यह सब धर्म की रक्षा के लिए या बेहतर होगा यह कहना कि सत्ता और यथास्थिति की

रक्षा के लिए धर्म का सहारा लिया गया। हमारे यहाँ भक्त कवियों के लिए वैज्ञानिक रुख अपनाना संभव नहीं था, हालांकि जीवन में न्याय के लिए उन्होंने तर्क करने वैचारिक लड़ाई करने की कोशिश की। रीतिकाव्य ने तो भक्ति आंदोलन की आवाज को ऐतिहासिक नेपथ्य में ठेल दिया। जनता तो ऐसा लगा कि ईश्वर की तरह ही अदृश्य हो गई। हालत ऐसी हो गई कि कविता जीवन की धड़कन से दूर जाकर हास्यापद तक हो गई। यद्यपि रीति-काव्य संपूर्ण ऐसा नहीं है, उसमें घनानंद, भूषण, मतिराम, रसखान आदि अपवाद हैं, जो जीवन और कविता का भिन्न स्वाद देते हैं।

सब कुछ के बावजूद जीवन-मूल्य, संघर्ष और आदर्शों से भरे काव्य-सृजन के जरिए आज तक हमें आकृष्ट करने और समय-समय पर झकझोरने वाला भक्ति-काव्य हमारे लिए गर्व का विषय तो है ही लेकिन यहीं पर और एक बात की ओर ध्यान खींचना चाहता हूँ।

डॉ. रामविलास शर्मा कहते हैं "इहलोकवाद और परलोकवाद का द्वंद्व यूरोप के पैमाने पर यहाँ कभी नहीं फैला। वास्तविक मोक्ष इस जीवन में है, जीवन के उपरांत नहीं। भक्त कवियों ने प्रेम के मंत्र से कर्म के बंधन काट दिए, पुरोहितों के रचे हुए स्वर्ग और नरक के सुहावने और डरावने चित्र मिटा दिए। उन्होंने सांस्कृतिक धरोहर को लोक संस्कृति से जोड़कर उसे नया रूप दिया। उन्होंने लोक-जीवन से अभिन्न रहकर साहित्य में यथार्थवाद का विकास किया। (हिंदी जाति का साहित्य)

भक्ति काव्य का अध्ययन करने से यह बात प्रमाणित नहीं होती कि उसमें इहलोकवाद और परलोकवाद का द्वंद्व नहीं है या कम है। यथार्थवाद का अंश भक्ति-काव्य में इतना ही है कि कवियों ने जन्मगत भेद और जातीय उत्पीड़न के खिलाफ जोरदार आवाज उठाई। इसका जिक्र इस लेख में अन्यत्र हुआ है। निर्गुण, संतों की विश्व-दृष्टि परलोकवादी ही है। इसका भी जिक्र किया गया है। शंकराचार्य के नियतवाद पर आधारित है उनकी विश्व-दृष्टि। यह परलोकवाद इहलोक के यथार्थ की अभिव्यक्ति को दाब देता है। तुलसी जैसे कवि जब अदृश्य सत्ता के अवतार को मानते हैं, तो परलोकवाद के प्रभाव को ही स्वीकार करते हैं। द्वंद्व यह है कि मानवीय संवेदनशीलता इहलोकवाद की ओर ले जाती है और अवतारवाद परलोकवाद की ओर। स्वयं भक्ति अदृश्य सत्ता के प्रति प्रणति ही तो है। सूरदास जब लिखते हैं कि "जाकी कृपा पंगु गिरि चढ़े अंधे को सब कुछ दरसाई।" तो परलौकिक भक्ति की ही महिमा गा रहे हैं न! यों यह एक संस्कृत-कथन का अनुवाद भी है। सहजो बाई कहती है -

'बड़ा न जाने पाइहैं साहिब के दरबार
द्वारे ही सो लागिहैं सहजो मोटी मार॥'

सब को एक दिन साहिब के दरबार में जाना ही है, भक्त कविगण समानता के पक्ष में, विषमता के खिलाफ थे, इसीलिए साहिब के दरबार में अमीरों के जाने का निषेध करते हैं। कबीर तो यहाँ तक कहते हैं कि 'चींटी के पग नेवर बाजें सो भी मेरा साहब सुनता है।' मैं कह चुका हूँ कि जन-जागरण जैसे ऐतिहासिक कर्म को परलौकिक भक्ति के सामने ले जा कर खड़ा कर देने के कारण ही मध्यकाल का महान आंदोलन विफल हो गया। अचरज

की बात मेरे लिए यह है कि सामाजिक विषमता और धार्मिक पाखंड का विरोध करते हुए भी संत-भक्ति कवियों ने चार्वाक या बौद्धमत को क्यों नहीं अपनाया। मुझे इस बात पर अचरज हो रहा है कि पारलौकिकता के स्पष्ट होने पर भी डॉ. रामविलास शर्मा कैसे कह जाते हैं कि भक्ति-काव्य में इहलोक और परलोक का द्वंद्व कम है।

भक्ति-आंदोलन और भक्ति-काव्य हमारी विरासत है। हम उस महान जागरण और सृजन के वारिस हैं। विरासत एक ऐतिहासिक जवाबदेही है। हमारे उन पुरखों ने जिस सत्य और न्याय के लिए संघर्ष किया और अपना दायित्व अधूरा छोड़ गए, उसे अपने आज के संघर्ष से जोड़कर उसे पूरा करने की जवाबदेही कबूल करना ही विरासत को स्वीकार करना है। हम उसे हू-ब-हू नहीं कबूल करते, उसकी समीक्षा करके उसकी सीमाओं से बचकर, आज की अपेक्षाओं को विकसित करके ही हम विरासत को मंजिल तक ले चलने में सफलता हासिल कर सकते हैं। हमें अपनी विरासत पर नाज है। इस विरासत को आधुनिक युग में प्रगतिशील आंदोलन ने ग्रहण किया है।

भक्ति-काव्य की विरासत को कबूल करते हुए हमें इतना ध्यान में रखना होगा कि आज हमारी लड़ाई पूँजीवाद या विश्व पूँजीवाद के खिलाफ लड़ना है। आज का पूँजीवाद वित्तीय पूँजीवाद है, मनुष्यता का सबसे बड़ा दुश्मन, इस दुश्मन को पराजित किए बिना हम अपनी विरासत और उद्देश्य को चरितार्थ नहीं कर सकते। कबीर का यह कथन आज भी हमारे सामने है और सफलता के संघर्ष के स्वरूप एक कठिनाई का बोध देता है। वे कहते हैं -

'सूर संग्राम ते भागै नहीं, भागै सो तो सूर नाही
काम-क्रोध मद-लोभ मोह ते जूझना
मचा घमसान तन खेत माहीं॥'

अपने उद्देश्य और विरासत की लड़ाई जीतने के लिए अपने को योग्य कैसे बनाएँ, यही कबीर हमें बता रहे हैं। पहली लड़ाई तो अपने भीतर लड़नी है, उसे जीतकर ही हम अपने प्रतिपक्ष से लड़ने के लिए मैदान में उतर सकते हैं। चलिए, जीत-हार को अपनी लड़ाई के स्वरूप पर छोड़ दें। बीसवीं सदी के क्रांतिकारी भाषा फैज अहमद फैज कहते हैं -

'यूँ ही हमेशा उलझती रही है जुल्म से खल्क
न उनकी रस्म नई है न अपनी रीत नई
यूँ ही हमेशा खिलाए हैं हमने आग में फूल
न उनकी हार नई है न अपनी जीत नई।'

मुख्य बात यह है कि लड़ाई जारी रहे, विरासत पर विरासत बनती रहे, इस तरह हमारी परंपरा बनती और बढ़ती चले। कबीर का वंश बढ़े नहीं। प्रगतिशील आंदोलन ने समानता की लड़ाई को समाज को बदलने का रूप दिया और धार्मिक पाखंड के खिलाफ लड़ाई को वैज्ञानिक नजरिए से जोड़ा।

अतः यह कहा कि इतिहास से जानकारी ही न लें, इतिहास बनाते समय भी। जीवन, समाज, इतिहास आदि को बदलने की लड़ाई मुश्किल होती है, वह कुर्बानी माँगती है। हम फिर फैज को याद करते हुए इन पंक्तियों से यह लेख समाप्त करते हैं -

'जिस धज से कोई मकतल में गया, तो मान सलामत रहती है,
ये जान तो आनी जानी है, इस जान की कोई बात नहीं।'